

त्रिपुरा रहस्य

अध्याय-20

श्री दत्तात्रेय ने कहा — अब मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, सुनो। पुरानी बात है— एक बार परमपवित्र ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान की चर्चा चली। उसमें बारीकी से विचार किया गया। उस महती ज्ञानगोष्ठी में सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, कश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शंख, लिखित, देवल और अनेक महर्षि तथा राजर्षिगण सम्मिलित हुए। ज्ञान का गहन प्रतिपादन करते हुए गम्भीर मीमांसा करने लगे। इसके बाद उन्होंने ब्रह्मा से पूछा:

“भगवन्! संसार में हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं। कार्य और कारण सब तत्वों को हम जाननेवाले हैं, किन्तु अलग-अलग स्वभाव के कारण हमारी स्थितियाँ भिन्न हैं। हममें से कुछ तो समाधि में लीन रहते हैं, कुछ विचार में लगे रहते हैं, कुछ भक्तिभाव में लगे रहते हैं और कुछ कर्म में निष्ठा रखनेवाले हैं। कोई बहिर्मुख पुरुषों की तरह व्यवहार में लगे रहते हैं इनमें श्रेष्ठ कौन है? यह हमें बतलाने की कृपा करें। भगवन्! हम लोग तो अपने-अपने पक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।”

ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने समझा कि इन्हें मेरे प्रति सही श्रद्धा नहीं है। उन्होंने कहा—मुनियो! यह बात तो पूरी तरह मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो आप लोग भगवान् महेश्वर से ही पूछें। वहीं जाइये, वे सर्वज्ञ हैं; इसके बारे में वे जानते होंगे। चलें, हम लोग वहीं चले। ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबके साथ शिवलोक पहुँचे। भगवान् विष्णु भी वहाँ मौजूद थे। सबके साथ महादेव से मिलकर ब्रह्माजी ने यही प्रश्न पूछा।

प्रश्न सुनकर महादेवजी ने ब्रह्मा और विष्णु के मन का भाव ताड़ लिया। उन्होंने सोचा ऋषियों के मन में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें कुछ भी समझाना तो बेकार ही होगा। इनसे जो कुछ कहा जायेगा, उसे ये अपने ही पक्ष की बात मानेंगे। ऐसा सोचकर देवाधिदेव महादेव ने कहा—मुनियो ! आपने जो पूछा है, उसे साफ़-साफ़ तो मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो हम सब मिलकर भगवती विद्यादेवी का ध्यान करें। फिर तो उनकी कृपा से गूढ़-से-गूढ़ रहस्य भी हम आसानी से जान सकते हैं।

महादेव के ऐसा कहने पर ब्रह्मा, विष्णु सहित मुनियों ने चित्स्वरूपा त्रिपुरा का ध्यान करना शुरू किया। इस तरह सबके मिलकर ध्यान करने पर चिदाकाशमयी शब्दस्वरूपा विद्यादेवी त्रिपुरा इनके सामने साकार प्रकट हुई।

तब आकाश में मेघगर्जन की तरह उनकी आवाज गूँज उठी—ऋषियो! बतलाओ, तुमने मेरा ध्यान किसलिए किया है? शीघ्र ही अपनी अभिलाषा बतलाओ। मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती।

चार प्रकार की वाणियों में सबसे पहली परा वाणी सुनकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने भी प्रणाम किया। फिर सभी ने मिलकर उनकी अनेक वन्दनाएँ कीं।

हे परमेश्वरी! आपने अपने में ही इस सारी दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि को समाहित कर रखा है। आपको हमारा अनेकशः प्रणाम है। आपका कभी जन्म नहीं होता, इसलिए आप सदा ही अनादि है। आपमें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं, अतः आप चिरनवीना हैं। आप ही सब हैं, आप ही सबकी जड़ हैं, आप सब कुछ जानती हैं तथा आप ही सबको खुश करनेवाली हैं। किन्तु आपके स्वरूप में सब तो है ही नहीं, अतः आप सर्वशून्या हैं। आप सबसे अलग हैं, आप कुछ नहीं जानती हैं और न किसी को खुश करनेवाली हैं, देवि! आपको हमारा बार—बार प्रणाम है। आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से बार—बार प्रणाम है।

आपका जो दूसरा रूप है, जो विभूति है, जो ज्ञान है, उसकी जानकारी का जो फल है, उसे जानने का जो प्रमुख साधन है, इसके जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धि की चरमसीमा है और सिद्धों में जो सर्वश्रेष्ठ है—इनके बारे में आप हमें बतलायें। हम आपको बार—बार प्रणाम करते हैं।

इस तरह ऋषियों के पूछने पर देवी त्रिपुरा को दया आ गई। उन्होंने सन्देह रहित बड़ी मीठी आवाज में उन्हें समझाना शुरू किया।

ऋषियो आप सुनें, मैं सिलसिलेवार आपको सारी बातें समझा देती हूँ। वेद और तंत्रशास्त्ररूपी समुद्र से अमृत निकालकर आपको देती हूँ।

जहाँ यह सारी दुनिया आईने में परछाई की तरह सबको हमेशा जनमती, टिकती और मिटती दीखती है, नासमझों को यह संसार के रूप में दिखाई देती है और योगियों को यह बिलकुल स्थिर दीख पड़ती है। अपने स्वरूप में जो गंभीर और शान्त समुद्र की तरह अचल अडिग, स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण इस आत्मपद को अद्वैत रूप से जानते हैं। फिर भी अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण उपास्य और उपासक के रूप में द्वैतभाव की कल्पना कर अत्यन्त तत्पर हो, निश्चल भाव से उस परम आत्मपद का सेवन करते हैं। इन्द्रियों और अन्तःकरण के बीच वह प्राणरूपी अन्तःसूत्र है। इसके स्फुरित न होने पर कुछ भी नहीं रहता। यह केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है। यह परमप्रकाश ही मेरा पररूप कहा गया है।

अनेक ब्रह्माण्डों से बिलकुल अलग—थलग बहुत दूर एक सुधासागर है। उसमें मणियों का एक टापू है। उस टापू पर एक कदम्ब का वन है। उस वन में चिन्ता—मणियों का एक मन्दिर है। उस मन्दिर में 'पश्चब्रह्ममय' एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरासुन्दरी की भव्य मूर्ति विराजित है। वही मेरा अपर स्वरूप है। इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिग्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष, किन्नर प्रभृति जो लोक में पूज्य हैं, सब मेरे ही दूसरे रूप हैं।

इन सभी रूपों में मैं ही हूँ, किन्तु मेरी ही माया से मोहित पुरुष मुझे ही नहीं पहचानते हैं। ऊपर वर्णित रूपों की उपासना से प्रसन्न होकर उपासक को मैं ही मनवांछित फल देती हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य मूर्ति न पूज्य है और न अभीष्ट फलदायिनी है।

ऋषियो! मेरी विभूति निःसीम है। मुझमें जिसकी भावना जैसी रहती है, उसे वैसा ही फल मिलता है।

मुनिवरो! मैं अकेली हूँ, चिन्मयी हूँ किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा किये बिना संसार के रूप में दीखती हूँ।

दुनिया के रूप में दीखने के बावजूद मैं अपने इस बेजोड़ चिन्मय रूप को छोड़ नहीं सकती। असंभव को भी संभव कर देने वाला मेरा यह ऐश्वर्य है।

ऋषियो! आप लोग जरा गहरी निगाह से मेरे प्रभुत्व की ओर देखें। मैं सबका आधार हूँ, सबमें अनुगत हूँ, फिर भी केवल चिन्मात्र हूँ। अपनी माया से अपने को ही न जानकर मैं बहुत दिनों से जन्म—मरण रूप संसार—चक्र में पड़ी हुई हूँ। फिर गुरुदेव का शिष्यत्व कुबूल करती हूँ। उसके प्रभाव से नित्यमुक्त होकर भी बार—बार मुक्त होती हूँ। मेरे ऐश्वर्य की ऐसी ही अनन्त परम्पराएँ हैं, जिसे हज़ारों फनवाले शेषनाग भी नहीं गिन सकते ।

सुनिए! संक्षेप में बतलाती हूँ, मेरे ऐश्वर्य के एक कण से यह अनोखा लोक—व्यवहार चारों ओर फैला हुआ है। दैत—अदैत के भेद से मेरा ज्ञान भी अनेक तरह का है। उसके फल भी पर और अपर भेद से अनेक तरह के हैं। द्वैतज्ञान अनेक तरह के है। इनका आधार कोई दूसरा होता है। उसे ध्यान भी कहा जाता है। यह सपने और मानसिक बहाव की तरह होते हैं।

किन्तु मनोराज्य की तरह होने पर भी उसे फलदायक ही समझना चाहिए, क्योंकि नियति का विधान ऐसा ही है। अपर ज्ञान अनेक हैं, परन्तु उनमें प्रमुखता इसी की है।

ऊपर बतलाया गया ध्यान उत्कृष्ट ब्रह्म का है। इसका प्रमुख फल मुक्ति है। मुक्ति का यह परम्परागत साधन है। पर ज्ञान को तो अद्वैत ज्ञान ही कहा गया है।

मैं ही तो परम उत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ। मेरी लम्बी आराधना किये बिना कोई अद्वैत नाम वाली इस पराविद्या को कैसे पा सकता है?

जो सच्ची चित्शक्ति है, वही विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसके सच्चे स्वरूप का विचार ही आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने वाला है।

जिस समय आदमी का मन अपनी आत्मा के स्वरूप की ओर लगता है, उसी समय उस विशुद्ध विज्ञान का साक्षात्कार होता है।

वेद से, उचित विचार से, आत्मा की अनुभूति होना और देह आदि में आत्मभाव की कमी हो जाना भी तो ज्ञान ही कहलाता है। असली ज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर दिखलायी देने वाली वस्तु भी कहीं नहीं दीखती है। सच्चा ब्रह्मज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर फिर कभी कुछ भी अनजान नहीं रह जाता है।

हे तापसो! जिस ज्ञान से सभी ज्ञान आत्मरूप हो जाते हैं, वास्तव में वही ज्ञान अद्वैत विज्ञान है। ऐसा विशिष्ट ज्ञान मिल जाने पर चिरपोषित सभी संशय उसी तरह खत्म हो जाते हैं जैसे हवा के झोंके से आकाश में मेघजाल विनष्ट हो जाते हैं। इसी ज्ञान को पराविज्ञान कहा गया है।

जिस ज्ञान के मिल जाने पर काम प्रभृति समस्त वासनाएँ स्वतः मिट जाती हैं, अगर कुछ बाकी रह भी जाती है तो वह दाँत तोड़े साँप की तरह बेकार ही होती हैं; यही पर-विज्ञान है। इस विज्ञान की उपलब्धि समस्त दुःखों से छुटकारा और पूरी निर्भयता है। इसे ही पर-विज्ञान माना गया है।

डर तो किसी दूसरे को पाने का पक्का इरादा करने पर ही होता है या फिर किसी दूसरे के अस्तित्व से होता है। जहाँ अद्वैत ज्ञान मजबूत है वहाँ फिर द्वैत का संकल्प ही नहीं हो सकता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं होता।

ऋषियो! आत्मा और परमात्मा का भेद छूट जाने पर डर तो रहता ही नहीं है। इसलिए जो फल आत्मा के रूप से अलग होगा वह सब तरह से भय रूप ही होगा। अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि ऐसा ही संसार में देखा जाता है। नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है। अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है?

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है। अतः यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है। अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे

बिछुड़ने का डर तो रहता ही है। आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है। यहाँ आकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एक रूप हो जाता है। हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है। इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं।

ज्ञेय का यही स्वरूप है। जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब एक वे कुछ नहीं हैं। जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यही इस ज्ञान का फल भी माना गया है। यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अतः इस भेद—कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं।

सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है। किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर—बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है।

इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई ज़रूरत नहीं है। यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है।

“जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा” इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है।

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए।

बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की शक्ति होती ही है। इसी बुद्धि के वात्याचक्र में फँसकर लोग जन्म—मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते रहते हैं।

इनका पहला दोष है — अविश्वास, दूसरा दोष है— इन्द्रि भोग की वासना और तीसरा दोष है— जड़ता। मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं।

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय। मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं? यह पहला संशयदोष है। मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है। ये दोनों ही तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं।

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं। किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है, कोई और नहीं।

अविश्वास का मूल कारण है— शास्त्र विरुद्ध तर्कों का सहारा। इसे छोड़कर यदि शास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा।

इन्द्रि भोग की वासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है। क्योंकि जिस बुद्धि में यह वासना होती है, उसमें सात्विक भावना नहीं होती है।

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है।

इन्द्रि भोग की वासना से जिसका मन कुलपित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनसुनी कर देता है। ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए।

वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है। इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है।

अतः वैरग्य की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए। आशा का ही दूसरा नाम काम है। मनुष्य के मन में —‘मुझे यह मिल जाय’ इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है।

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है। ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ वैराग्य से विनष्ट कर देना चाहिए।

ऐसी साधना की जड़ है— हर पल काम्यवस्तुओं में विचार रखना। विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है।

मुनियो! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता। इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है।

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में नहीं समा पातीं। मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है।

इससे छुटकारा मिलने का उपाय परमदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। साधक की उपासना के अनुसार दे। उसकी जड़ता कम या अधिक दूर करती हैं।

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या अधिक जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है।

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है। जो हमेशा निश्चल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विधनों को पार कर निहाल हो जाता है।

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ। अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है। उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता।

अतः हे तापसो! मुख्य साधन तो अवधारणा ही है, अतः दृढ़ निश्चय करने वाला साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है। इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है

देह को आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है। देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है

‘मैं कौन हूँ’ इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है

अतः यह विशुद्ध चित्ति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है, उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देहों को मिटा देना है। इसी स्थिति को विज्ञानों ने सिद्धि कहा है। इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं हैं।

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं। अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है। ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती है।

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है। भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है।

जिनकी दृष्टि में ‘ब्रह्मपद’ भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ?

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है। जिससे शोक का विनाश होता है और आनन्दघनता मिल जाती है।

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है। अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है। किन्तु लोक में वैदिक श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम।

बुद्धि की प्रखरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए भी वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है। पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है। जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है।

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है। जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा आत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या अधिक भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है। इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है।

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है। जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर रुचि जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं। बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव लगाव रहे तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है।

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती हैं। जगे रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए। ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है।

लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है।

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है।

जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है।

सभी सुख, दुःख और सांसारिक व्यवहारों को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है।

अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुषो को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है।

अधिक क्या कहूँ, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ। मुझमें और उसमें कभी कोई अन्तर नहीं है। मुनियो! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया। मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर भी मोह नहीं होता।

हे परशुराम! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई। उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया। शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये।

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करने वाली विद्यागीता सुनायी। इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाता है।

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है। जो आदमी इसका प्रति-दिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती है। इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य और नौका दोनों के समान है।

(यह हिन्दी रूपान्तर आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र की व्याख्या पर आधारित है।)

